Anusandhanvallari
Vol 2025, No.1
January 2025
ISSN 2229-3388

प्रतिभा-वाक्यार्थवाद का स्वरूप

Dr. Swasti Sharma
Senior Consultant
Program Office
National Syllabus and Teaching Learning Material Committee (NSTC)
National Council of Educational Research and Training (NCERT)

प्रस्तावना

मानव का समग्र भाषिक व्यवहार वाक्य से ही प्रचलित होता है। अनेक वर्ण मिलकर अर्थवान शब्द का निर्माण करते हैं परन्तु सार्थक होने पर भी सभी शब्दों में प्रयोग की योग्यता नहीं होती है। उनमें प्रयोग की योग्यता तभी आती है जब वे विभक्ति अथवा प्रत्यय से युक्त पदरूप में व्युत्पन्न होकर किसी वाक्य के सार्थक अङ्ग के रूप में प्रयुक्त नहीं होते हैं। वाक्य वर्णों के समूहरूप पद से घटित एक ऐसी भाषिक इकाई है जो एक समन्वित भाव को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त कर सकता है। प्राचीन काल से ही वाक्य के साथ-साथ वाक्यार्थ पर भी विचार किया गया है। प्राचीन अनेक आचार्यों ने वाक्यार्थ को समक्ष रखकर ही वाक्य पर विचार किया है। पदों के समूहरूप वाक्य से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। अतः पद के लक्षण के अनन्तर वाक्य का लक्षण किया गया है। वाक्य के निर्माण में इस प्रकार के पदों के समूह की अपेक्षा होती है जिनमें से किसी एक पद या किन्हीं एक से अधिक पदों का उच्चारण न होने पर भी वाक्य में विद्यमान अन्य पदों में आकांक्षा बनी रहे और वहीं यदि वाक्य के सभी पदों के युगपत् उच्चरित हो जाने पर किसी प्रकार की कोई भी आकांक्षा न रहे। उदाहरण के लिए 'श्यामो घटमानयति' इस वाक्य में प्रयुक्त पदों के अलग-अलग उच्चारण करने पर भी सभी में आकांक्षा बनी रहती है तथा इससे आकांक्षारहित अर्थ का बोध नहीं होता परन्तु सम्पूर्ण वाक्य को एक साथ कहने से अर्थसम्बन्धी आकांक्षा का नाश हो जाता है। यदि वहीं किन्हीं पदों के समूह के उच्चरित होने के पश्चात् भी अर्थसम्बन्धी आकांक्षा का नाश नहीं होता तो उस पदों के समूह को वाक्य नहीं कह सकते।वार्तिककार के मत में अवयव, कारक और विशेषणसहित आख्यात ही वाक्य होता है।[1] भाष्यकार के अनुसार विशेषणयुक्त आख्यात ही वाक्य होता है क्योंकि उपर्युक्त अवयव, कारक तथा विशेषण क्रिया में विशेषण के रूप से ही भासित होते हैं और विशेष्य क्रिया होती है।[2] साथ ही ये एक तिङ् वाले पद या पदसमूह को वाक्य मानते हैं। जिस स्थान पर तिङन्त पदमात्र का प्रयोग होता है, वहाँ भी कारक का आक्षेप हो जाता है। जैसे 'प्रविश' इस पद के प्रयोग होने पर 'गृहम्' इस कारक का स्वयं आक्षेप हो जाता है। पतञ्जलि

[1] अष्टाध्यायी, वार्तिक, 2/1/1

[2] महाभाष्य, 2/1/1

कात्यायन के वाक्य के लक्षण को अपूर्व के नाम से अभिहित करते हैं।[3] इससे यह भी ज्ञात होता है कि वाक्य के लक्षण के संबंध में कात्यायन ने गहन विचार किया था।

सामान्यतः पदसमूह ही वाक्य है।[4] यह वाक्य की सर्वाधिक सरल परिभाषा है परन्तु वाक्य की वास्तविक परिभाषा सबसे पहले मीमांसासूत्र में प्राप्त होती है।[5] वहाँ बताते हैं कि जिन क्रियापदों तथा कारकपदों के सहयोग से एक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है और यदि उसमें से किसी एक पद को पृथक् कर दें और दूसरे पद उसकी आकांक्षा रखी जाये तो ऐसे पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।[6] शबरस्वामी के अनुसार 'अर्थैकत्व' का तात्पर्य अर्थप्रयोजन की एकता है।[7] अत एव मीमांसकों के मत में वाक्य में पदों के समूह की एकार्थकता होती है अर्थात् वे समस्त पद एक अर्थ को बताते हैं। पदों के द्वारा अलग-अलग अर्थ का ज्ञान कराने पर समूह में होने वाला कार्य नहीं हो सकेगा। जैसे पाक–क्रिया में अनेक बाह्य साधनों का उपयोग किया जाता है, ठीक वैसे ही समस्त पद मिलकर वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं।[8] वैयाकरणों के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण परस्पर समन्वय से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं।[9]

संग्रहकार व्याडि ने वाक्यार्थ के सिद्धान्त को स्थिर और प्रतिष्ठित किया था कि पद का स्वरूप तथा उसके अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ पर ही निर्भर करता है।[10] महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में वाक्यार्थ से सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य प्राप्त होते हैं। कोई भी पद पहले सामान्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं तदनन्तर विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। पदों के सामान्य से विशेष में अवस्थित होने को ही वाक्यार्थ कहते हैं।[11] महाभाष्य के इस विचार को कैयट इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं कि वाक्यार्थ पदार्थसंसर्ग रूप होता है। मुख्य शब्द एवं मुख्य शब्दार्थ क्रमशः वाक्य एवं वाक्यार्थ ही हैं।

प्रतिभा

वाक्यार्थ के एक होते हुए भी कई विद्वानों ने वाक्यार्थ को अनेक के रूप में माना है। इस अनेकता का कारण भर्तृहरि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह अनेकता व्यक्तियों की अनेक भावनाओं के कारण है। यथा जितने प्रकार के व्यक्ति

[3] इदमाधापूर्वं क्रियते वाक्यसञ्ज्ञा समानवाक्याधिकाश्च। महाभाष्य, 2/1/1

[4] पदसङ्घातजं वाक्यम्। बृहद्देवता, 2/117

[5] अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्। मीमांसासूत्र, 2/1/46

[6] महाभाष्य, प्रदीप, 8/1/18

[7] एकप्रयोजनत्यवात् उपपन्नम्। शबरभाष्य, भाग-2, पृ० सं० 429

[8] यथा हि बाह्यानि करणानि काष्ठादीनि पाके व्याप्रियन्ते यथा च शिबिकाया उद्यन्तारः सर्वे शिबिकामुद्यच्छन्ति यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां विभ्रति तथा सर्वाण्येव पदानि वाक्यार्थमवबोधयन्ति। न्यायमञ्जरी, भाग-1, पृ. सं. 366

[9] पदसङ्घात एवाकांक्षायोग्यतासन्निधानवशात् परस्परसमन्वितो वाक्यम्। पुण्यराज, वाक्यपदीयम्, 1/15

[10] पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते। वाक्यपदीयम् 1/24 हरिवृत्ति में संग्रहकार के नाम से उद्धृत पृ० ४२ लाहौर संस्करण

[11] पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः। महाभाष्य 1/2/45

होते हैं, उतनी ही प्रकार की भावनाएँ भी होती है। वस्तुतः वाक्यार्थ तो एक ही होता है परन्तु भावनाओं की विभिन्नता के कारण हम उसे अनेक समझते हैं।[12] श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में कुमारिल ने प्रतिभा के विषय में अपना मत प्रस्तुत किया है कि पदार्थों के विषय में मनुष्यों की प्रतिभा अनेक प्रकार की उत्पन्न होती है तथापि वाक्य का अर्थ बाह्य पदार्थ ही मानना चाहिए। यदि प्रतिभा को वाक्यार्थ मानने का अर्थ यह है कि प्रतिभा वाक्य का प्रयोजन है या प्रतिभा वाक्य से उत्पन्न होती है तब उसे वाक्यार्थ मानने पर कोई आपत्ति नहीं होती है।[13]

प्रतिभा-वाक्यार्थवाद

अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद सखण्डवाक्यवादियों के विपरीत अखण्डवाक्यवादी वैयाकरणों का मत है। वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि के मतानुसार वाक्य अवयव से रहित, अखण्ड और निष्क्रम है। इनके अनुसार क्रमयुक्त पदों से अभिव्यक्त हुआ अखण्डवाक्य स्फोटरूप शब्द ही अर्थ का वाचक है।[14] वाक्यार्थ भी वाक्य के तुल्य ही निरवयव या अखण्ड होता है। जैसे वर्ण और पदरूप काल्पनिक अवयवों के द्वारा अन्त-सन्निविष्ट वाक्यतत्त्व प्रकाशित होता है, वैसे ही असत्य पदार्थों से अखण्ड बुद्धिगत वाक्यार्थ अभिव्यक्त होता है।[15] इन्हीं अवयवों से रहित वाक्यार्थ को प्रतिभा कहते हैं तथा वैयाकरण प्रतिभा को ही वाक्यार्थ मानते हैं।[16] देवदत्त आदि पदों के अलग अलग अर्थबोध कराने पर पदों में विशिष्ट प्रतिभा की उत्पत्ति होती है। यही वाक्यार्थ है। पुण्यराज के मतानुसार शब्द स्फोट और अर्थ प्रतिभा है।

वैयाकरण शब्द को परम-सत्ता के रूप में मानते हैं तथा शब्द ही चैतन्य है। शब्द के अतिरिक्त चैतन्य कुछ भी नहीं। यह चैतन्य एक अविभाज्य तथा अविश्लेषणीय अवयव से रहित सत्ता है। यह विभिन्न अंतर्वस्तुओं के साथ के कारण विविध प्रकार का प्रतीत होता है। अंतर्वस्तुओं का चैतन्य से अभेद मानने के कारण उन्हें एकत्र रखने वाले एकत्वरूप चैतन्य पर अपनी विविधता को आरोपित कर देते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि चैतन्य का एकत्व तर्कपूर्ण चिंतन की पूर्वमान्यता है। अंतर्वस्तुओं का एकत्र ग्रथित तथा एकत्व रूप चैतन्य ही प्रदान करता है। यह एकत्व एक व्यवधान से रहित, अविश्लेषणीय, अविच्छिन्न और अवयव से रहित प्रकाश है और इसी प्रकाश को वैयाकरण प्रतिभा नाम से अभिहित करते हैं। अतः इसी के माध्यम से तर्कमूलक चिंतन तथा व्यावहारिक व्यापार की सिद्धि सम्भव हो पाती है।

यही अविच्छिन्न प्रतिभा ही वाक्य का परम अर्थ होती है। उपर्युक्त कथनानुसार शब्द चैतन्य-स्वरूप है तथा यह चैतन्य अपनी मूलप्रकृति में अव्यवहित स्वयं प्रकाश और अन्तःप्रज्ञात्मक होता है। अतः यह शब्द और प्रतिभा एक ही है। इसलिए प्रतिभा को वाक्यार्थ कहने का तात्पर्य यही होगा कि शब्द का अर्थ शब्द है। यह केवल निरर्थक पुनरुक्ति है। शब्द

[12] अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः। वाक्यपदीय 2/118

[13] श्लोकवार्तिक, पृ. 324-327

[14] वाक्यपदीयम्, 2/28-29

[15] अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाशते। वाक्यपदीयम्, 2/31

[16] विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते। वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थेरूपादिताम्॥ वाक्यपदीयम् 2/143

अथवा वाक्य से किसी अर्थ की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में अनुभव होता है तथा अनिवार्य रूप से अर्थ शब्द से पश्चात्-भावी तथ्य है। यदि यह कहा जाए कि शब्द स्वयं अपना अभिधान करता है तथा शब्द एक अर्थरहित प्रलाप है तो ये दोनों ही एक समान हैं।

प्रस्तुत आपत्ति इतनी सहज समझ पर आधारित होने के कारण इसका खण्डन करना अपाण्डित्य होगा। यह कहना व्यर्थ होगा कि वैयाकरण को इसका बोध नहीं। इसे वैयाकरण अस्वीकार नहीं करते हैं कि वाक्य एक अर्थ है अर्थात् यह अपने से अलग किसी वस्तुनिष्ठ तथ्य की ओर संकेत करता है। स्पष्ट रूप से वाक्यरूप और अर्थ पदार्थ है तथा ये दोनों सत्ता मीमांसीय दृष्टि से अलग सत्ताएँ हैं।

व्याकरण-दर्शन में आचार्य अर्थ को शब्द-तत्त्व का विवर्त मानते हैं। जो भी भाव विचार और बाह्य वस्तु-रूप हैं, वे उसी अव्यक्त शब्द-तत्त्व का व्यक्त रूप माने गये हैं। शब्द-तत्त्व नित्य एवं सत्य और अर्थ असत्य एवं आभास-मात्र मानते हैं। अतः वैयाकरणों ने शब्द तथा वाच्यार्थ में तात्त्विक अभेद मानकर दोनों के भेद को अज्ञान से जनित की अवधारणा माना है।

प्रश्न यह होता है कि परस्पर अलग इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य वस्तुओं के बोधक शब्दों के अर्थ की समस्या का समाधान शब्दाद्वैत के सिद्धान्त के द्वारा कैसे होगा? वैयाकरणों का मानना है कि परस्पर अलग दिखाई देने वाले अर्थों के सन्दर्भ में भी वस्तुतः शब्दार्थ एक प्रतिभा-रूप आत्मा से अलग तथ्य ही होता है। वैयाकरण इसी तथ्य अथवा मान्यता के आधार पर सभी शब्दों को सभी अर्थों का वाचक मानते हैं। व्यावहारिक रूप में भले ही विशिष्ट शब्द अर्थविशेष का वाचक मान लिया जाये परन्तु तात्त्विक रूप से कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का बोधक हो सकता है।

व्याकरण-दर्शन में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि शब्द-ब्रह्म सनातन सत्ता-स्वरूप है। शब्दब्रह्म चैतन्यस्वरूप है। इस अखण्ड चैतन्य-स्वरूपी शब्दब्रह्म को खण्डित नहीं किया जा सकता है। चेतना के विषय की अनेकता के कारण ही वह चेतना अनेक रूपों में आभासित होती है। चैतन्य के विषय उस पर अपनी विविधता आरोपित कर देते हैं, इसके फलस्वरूप एक ही चैतन्य अनेक रूपों में प्रतिभासित होने लगता है। विषयों की अनेकता के कारण चैतन्य में आभासित होने वाली विविधता उसके एकत्व के तथ्य को खण्डित करने में सक्षम नहीं। जिस प्रकार एक ही अग्नि आश्रय की भिन्नता से अनेक रूपों में व्यक्त हो तो उससे अग्नि का एकत्व खण्डित नहीं होता।

किसी भाषिक कथन का अर्थ अखण्ड प्रतिभा-रूप माना गया है। यह शब्द-तत्त्व चैतन्यस्वरूप है तथा या चैतन्य प्रकाश-स्वरूप है। चेतना के उस प्रकाश को ही प्रतिभा कहते हैं। इसलिए शब्द तथा प्रतिभा अर्थात् वाक्यार्थ-भिन्न नहीं हैं। अतः प्रतिभा को ही शब्दार्थ अथवा वाक्यार्थ मानना, शब्द को ही शब्द का अर्थ मानना होगा।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि उसका शब्द से पृथक् क्या कोई अर्थ नहीं होता? वाचक शब्द तथा उससे वाच्यार्थ क्या एक ही होता है? उदाहरण के लिए 'गाय' शब्द से मात्र 'ग्', 'आ', 'य्', तथा 'अ' ध्वनियों का ही एक क्रम-व्यवस्था का ही ज्ञान होता है या उससे भिन्न किसी प्राणी-विशेष-रूप अर्थ का ज्ञान होता है? यदि ऐसा होता तो 'गाय दूध देती है', 'गाय घास खा रही है', 'गाय बीमार हो गयी है' आदि वाक्यों का क्या अर्थ होता?

वैयाकरण इस तथ्य को मानते हैं कि भाषिक कथन का कुछ अर्थ होता है जो उस उक्ति से निर्दिष्ट होता है तथा इसलिए उस उक्ति से अलग होता है। उक्ति शब्द की संरचना होती है जो ध्वन्यात्मक पदों के विशिष्ट संघटन के द्वारा निर्मित होती है तथा उसका अर्थ वस्तु संसार का तथ्य मानस लोक का भावविचार आदि कुछ भी हो सकता है, जिसके ज्ञान में उक्ति-सार्थकता होती है। भाषिक व्यवहार में अनेक वाक्यों का सम्बन्ध लोक-व्यवहार से होता है। ये वाक्य संसार में सिद्ध वस्तुओं का ज्ञान कराते हैं। जिनसे व्यक्ति परस्पर एक दूसरे के मध्य विचारों और अनुभूत विषयों का आदान प्रदान करते हैं। अतः कुछ व्यक्ति शब्द के द्वारा निर्दिष्ट बाह्य वस्तु को ही शब्दार्थ मानकर शब्द को विविध वस्तुओं पर आरोपित नाम के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। वे भाषिक प्रयोग को सिद्धार्थ के ज्ञान के लिए एक साधन के रूप में मानते हैं। भाषिक ज्ञान की समस्या इतनी सरल नहीं की सभी जगह शब्द तथा अर्थ की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मानकर इस का समाधान किया जा सके।

प्रतिभा अथवा चेतना को वाक्यार्थ का स्वरूप मानने पर भी कई प्रकार की समस्याएँ आती हैं। चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में ही बहुत से दर्शनिकों में मत वैभिन्य है। अध्यात्मवादी दर्शन में चेतना की सत्ता वस्तु निरपेक्ष मानी जाती है, जिसकी इस संसार में केवल अभिव्यक्ति होती है। इसी के विपरीत भौतिकवादी दर्शन में चेतना को वस्तु के सापेक्ष माना जाता है। वह वस्तु से उत्पन्न और वस्तु के ज्ञान से विकसित होती है। बाह्य वस्तुओं के साथ उन ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क होने पर मन में वेदना की उत्पत्ति होती है। उन वेदनाओं की शाश्वत निरन्तर धारा ही चेतना का रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार चेतना को वस्तुसापेक्ष माना गया है। ऐन्द्रिय ज्ञान बाह्य वस्तु की सत्ता की अपेक्षा रखता है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि वस्तु की ज्ञान से अलग सत्ता होती है जो बोध के रूप में मन के द्वारा गृहीत होती है। इस प्रकार भौतिकवादी दर्शन के मतानुसार वस्तु और ज्ञान की पृथक्-पृथक् सत्ता होती है। वस्तु की सत्ता का ही बोध के रूप में ग्रहण होता है।

चेतना के विषय में वैयाकरणों का मानना है कि चेतना एक अखण्ड सनातन सत्ता है जिसके भीतर अनेक असंख्य अवधारणाएँ समावेशित हो सकती हैं। चेतनानिष्ठ अखण्डता इस बात का प्रमाण है कि वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य बाह्य वस्तुओं की खण्ड-वेदनाओं से उत्पन्न नहीं होती। नैयायिक प्रत्ययों के अविसंवाद को एकता का रहस्य मानकर खण्ड-प्रत्ययों से एक अखण्ड चेतना के निर्माण का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं परन्तु वैयाकरण खण्डों से अखण्ड चेतना को निर्माण के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। अविसंवाद आदि कारण विभिन्न अवधारणाओं को एकत्र कर सकते हैं परन्तु अखण्डता का स्पष्टीकरण नहीं कर सकते।

अणुवादी नैयायिक खण्ड-प्रत्ययों द्वारा अखण्ड चेतना के स्वरूप के निर्माण के सिद्धान्त को मानते हैं वहीं बौद्ध आचार्य खण्ड अवधारणाओं की अविच्छिन्न धारा के रूप में चेतना की अखण्डता को नहीं मानते हैं। प्रस्तुत इन दोनों ही मतों के विपरीत भर्तृहरि एक अन्य सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं कि चेतना की अखण्डता को विभिन्न विचार खण्डों से निर्मित नहीं मान सकते हैं। वह अखण्ड चेतना अनादि सत्ता वाली है।

निष्कर्ष

कुछ विचारक शब्द-तत्त्व की पश्यन्ती दशा से प्रतिभा के सम्बन्ध को मानते हैं। परा वाणी पूर्णतः अव्यक्त है। पश्यन्ती के रूप में उसका पहला उन्मेष होता है। तथा फिर मध्यमा और वैखरी अवस्थाओं में वह क्रम से अभिव्यक्त होती है। भाषा दर्शन के अंतर्गत इसी कारण पश्यन्ती आदि वाक् के स्वरूप का अध्ययन विश्लेषण संभव हो पाता है। परावाक् का स्वरूप अनिर्वचनीय माना गया है। पश्यन्ती शब्दब्रह्म की वह अवस्था है जिसमें चेतना शब्द-अर्थ का साक्षात्कार करती है। यही प्रतिभा का यथार्थ स्वरूप है। प्रतिभारूप में उक्ति का बोध चेनतागत होता है। चेतना के इस आलोक को ही शाब्दबोध का स्वरूप मानते हैं। तात्विक दृष्टि के अनुसार वाणी की पश्यन्ती दशा में चेतना के द्वारा ग्रहण होने वाले शब्द-अर्थ के स्वरूप को प्रतिभा मानते हैं परन्तु भर्तृहरि प्रतिभा शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं। ये पशु-पक्षी की सामान्य अनुभूति को भी प्रतिभा कहते हैं। अतः भर्तृहरि आदि वैयाकरण शाब्दबोध को प्रतिभा का आलोक-रूप मानते हैं जिसमें अन्तर्दृष्टि के द्वारा शब्द तथा अर्थ का साक्षात्कार होता है।

सन्दर्भग्रन्थसूची

[1] ***अष्टाध्यायी सूत्रपाठ*** **:** पाणिनि, सम्पादक– ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ, सोनीपत, वि. सं. 2050.

[2] ***न्यायमञ्जरी*** **:** जयन्तभट्ट, (श्रीचक्रधर की ग्रन्थिभङ्ग व्याख्या सहित), सम्पादक– गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1984.

[3] ***न्यायमञ्जरी*** **:** जयन्तभट्ट, सम्पादक– गंगाधरशास्त्री, विजयनगरम्, संस्कृत सीरीज, 1895.

[4] ***वाक्यपदीयम्*** **:** भर्तृहरि, सम्पादक– के. वी. अभ्यङ्कर एवं पी. वी. लिमये, भाग-2, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे, 1965.

[5] ***मींमासासूत्रम्*** **:** शबर, (शाबरभाष्य भाग 1-7) आनन्दाश्रम संस्था, पुणे, 1976.

[6] ***वाक्यपदीयम्*** **:** भर्तृहरि, सम्पादक– के. राघवन् पिल्लई, त्रिवेन्द्रम्, 1971.

[7] ***वाक्यपदीयम्*** **:** भर्तृहरि, वृत्ति एवं वृषभदेवकृत पद्धति टीका सहित, काण्ड-1, सम्पादक– के. ए. सुब्रह्मण्य अय्यर, डेक्कन कॉलेज, पुणे, 1966.

[8] ***वाक्यपदीयम्*** **:** भर्तृहरि, काण्ड-2, वृत्ति एवं पुण्यराज की टीका सहित, सम्पादक– के. ए. सुब्रह्मण्य अय्यर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983.

[9] ***वाक्यपदीयम्*** **:** भर्तृहरि, काण्ड-3, भाग-1, वृत्ति एवं पुण्यराज की टीका सहित, सम्पादक– के. ए. सुब्रह्मण्य अय्यर, पुणे, 1973.

[10] ***व्याकरणमहाभाष्य*** **:** पतञ्जलि, (1-5 अह्निक) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978.

[11] ***व्याकरणमहाभाष्यम्*** **:** पतञ्जलि, कैय्यटकृत 'प्रदीप' एवं नागेशकृत उद्योत टीका सहित प्रथम खण्ड (नवाह्निकम्) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली(निर्णयसागर प्रेस, बम्बई के संस्करण से पुनर्मुद्रित), 1987

[12] ***व्याकरणमहाभाष्यम्*** **:** पतञ्जलि, (प्रदीपोद्योतसहित) खण्ड 2-6, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली (निर्णयसागर प्रेस, मुम्वई के संस्करण से पुनर्मुद्रित), 1988.

[13] ***शब्दशक्तिप्रकाशिका*** **:** जगदीश, (कृष्णकान्तीरामभद्री सहित) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1973.

[14] ***शब्दकौस्तुभ*** **:** भट्टोजिदीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1973.

[15] ***शब्दव्यापारविचार*** **:** मम्मट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1974.

[16] ***श्लोकवार्तिकम्*** **:** कुमारिलभट्ट, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, 1979.

[17] ***शाब्दबोधमीमांसा*** : ताताचार्य, एन. एस. रामानुज, सुबर्थविचारात्मकः, द्वितीयो भागः, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2006.